THE ECONOMIC TIMES

Date:05-07-23

Strategic CSR, Make Every Bit Count

ET Editorials

In developing countries like India, the state has traditionally been a provider for most citizens. But, over time, India Inc has extended a helping hand by being an engine of growth and a job creator. India Inc's corporate social responsibility (CSR) spend has also grown. According to the corporate affairs ministry last week, it stood at ₹26,210 crore in FY2021, up 80% from FY2016. Unfortunately, the impact of CSR funds, according to the ministry newsletter, has not been 'widely felt'. This needs enhancement. CSR efforts should be executed strategically, with the right balance of capital investments and operational expenses. The ministry also expressed concerns over the wide regional disparity in deploying funds and called on companies to balance their area preference with national priorities.

The CSR provision, under the Companies Act 2013, stipulates that a company with a net worth of ₹500 crore or more, or a turnover of ₹1,000 crore or more, or a net profit of ₹5 crore or more during a financial year must spend 2% of its average net profit during the three immediately preceding financial years on CSR activities. But challenges exist: inability of companies to weave CSR into the heart of their business strategies, limited availability of well-governed non-governmental organisations to roll out projects, and failure of companies to make local communities part of a project's journey.

With the 2030 Sustainable Development Goals (SDGs) finishing line in sight and pressure increasing to meet the goals, it's time to iron out these issues and revitalise the partnership between key stakeholders. As the Indian economy grows, so will the CSR kitty. Let's make the best use of it. Every drop counts.

दैनिक भास्कर

Date:05-07-23

एडटेक - क्रांति की नाकामी से ई-लर्निंग को हुआ नुकसान

अंशुमान तिवारी, (मनी-9 के एडिटर)

कहते हैं 1985 में मोटोरोला के एक इंजीनियर को बहामा में छुट्टी मनाते हुए सूझा कि अगर पूरी दुनिया में सैटेलाइट का नेटवर्क बना दिया जाए तो कहीं भी कभी भी मोबाइल कॉल की जा सकती है। मोबाइल तब शुरू ही हुए थे। सैटेलाइट फोन तकनीक भी उपलब्ध थी मगर केवल सैन्य या राहत बचाव के लिए | मोटोरोला के सीईओ रॉबर्ट गाल्विन ने इस प्रयोग में पूंजी लगाई। परियोजना का नाम था इरीडियम। 1990 के उत्तरार्ध में इरीडयिम की धूम थी। मोटोरोला ने 1996 तक इसमें करीब 53.7 करोड़ डॉलर का निवेश किया । इरीडियम का हैंडसेट ईंट के बराबर भारी था। कीमत थी करीब 3000 डॉलर । एक कॉल करीब 7 से 30 डॉलर प्रति मिनट तक महंगी थी। 1996 तक मोबाइल नेटवर्क पूरी दुनिया में फैल चुके थे। मगर मोटोरोला ने अपनी सालाना रिपोर्ट में लिखा कि उसने ग्लोबल पर्सनल मोबाइल कम्युनिकेशंस का एक नया बाजार तैयार कर दिया है। कंपनी ने 5 अरब डॉलर के निवेश से 66 लो अर्थ ऑरबिट सैटेलाइट बनाए और 1997 में एक के बाद एक उनकी पूरी माला अंतरिक्ष में बिठा दी। मगर इरीडियम को न ग्राहक मिले न सेवा चली। 1998 में कंपनी दिवालिया हो गई। सैटेलाइट जमीन पर न गिरें, इसलिए अमेरिका को इनकी बैटरी व संचालन का जिम्मा लेना पड़ा। अगर आपको इस किस्से का आधुनिक संस्करण देखना है तो इरीडियम की जगह एडटेक कंपनियों मसलन बायजूस आदि को रख दीजिए।

आज बायजूस के ऑडिटर कंपनी छोड़ रहे हैं । अपार घाटे हैं। कर्ज में डिफॉल्ट हो चुका है। 22 अरब डॉलर वैल्यूएशन की कंपनी अब 5 अरब डॉलर की रह गई है। ईडी के छापे भी पड़ चुके हैं। कर्मचारियों को हर माह निकाला जा रहा है। भारतीय एडटेक की सभी चमकदार गाथाएं संकट में हैं। एडटेक कंपनियों के लिए कोविड को मत कोसिए । आईएनसी 24 का डाटाबेस बताता है कि भारत में 4450 एडटेक स्टार्टअप में से 25 फीसदी 2014 से 2019 के बीच बंद हो गए थे। केवल 4 फीसदी को नई पूंजी मिली। इसमें अधिकांश पूंजी बायजूस ने उठाई थी। इसके बाद भी 2022 तक भारत में एडटेक का बाजार 1.2 अरब डॉलर पर पहुंचने का नगाड़ा बज रहा था। इसमें सरकारी आवाजें भी शामिल थीं।

एडटेक वाले ऐसे बाजार में उतरे थे, जहां मांग ही मांग है। शिक्षा व्यवस्था ध्वस्त है। तकनीक व शिक्षा का संयोग तो जीत की गारंटी है। मगर इरीडियम जैसा ही कुछ एडटेक में हुआ। बाजार में ऊपर से अपार संभावना दिखती थी मगर सच बिल्कुल विपरीत था। कंपनियों ने गुलाबी रिपोर्ट बनाई और उन्हें बेचकर पूंजी जुटा ली । पूंजी देने वाले भी समझ नहीं पाए कि भारत का शिक्षा बाजार जटिल है, गहरी प्रतिस्पर्धा है, पढ़ाई इस बात से तय होती है कि किस परिवार में इसका बोझ उठाने की कितनी क्षमता है और शिक्षा इस नापजोख पर बढ़ती है कि रोजगार कहां मिलेगा। पढ़ाई का अधिकांश कारोबार स्थानीय है। कंपनियां बाजार को समझ नहीं पाईं। स्टार्टअप आने लगे। बायजूस जैसों कोचिंग, स्कूलों का अधिग्रहण शुरू कर दिया। दो साल तक देश को लगा कि अब बच्चों को स्कूल जाने की क्या जरूरत है? बाजूस हैन, सब पढ़ा देगा। एडटेक में बच्चों की जरूरतों और शिक्षा की दिनचर्या की समझ नदारद थी। स्कूल में छह घंटे की पढ़ाई, होमवर्क और ट्यूशन के बाद बच्चों के पास एडटेक से पढ़ाई का वक्त नहीं था। स्कूल खुलते ही एडटेक की दुकान बंद होने लगी।

स्कूली शिक्षा छात्रों को उनकी वरीयताओं, समस्याओं के व्यक्तिगत समाधान देती है ताकि सही नतीजे आ सकें। एडटेक उत्पादों में इस तरह का निजीपन कैसे आ सकता था ? एडटेक उत्पाद शिक्षा में सहायक तो हो सकते हैं मगर वे अनिवार्य जरूरत नहीं थे। कई उत्पादों में तकनीक की भरमार ने उन्हें पढ़ाई से ज्यादा कठिन बना दिया। शिक्षा परिणाम-आधारित कारोबार है। दाखिले से लेकर रोजगारों तक हर कदम पर परिणामों का आकलन होता है। एडटेक के मौजूदा मॉडल शिक्षा और नतीजों के रिश्तों को स्थापित नहीं कर पाए यानी एडटेक पर पढ़ने से अच्छे नंबर की गारंटी जैसा कुछ नहीं था। 2020 तक एडटेक कंपनियों की ग्राहक जुटाने की लागत उनके कुल राजस्व का 80 फीसदी हो गई थी। यहीं से

ढलान शुरू हुई। जाहिर है इसके मुकाबले राजस्व कहीं नहीं थे, इसलिए यह मॉडल चिथड़ा हो गया। नुकसान बढ़ते देख कंपनियों ने सब्सिक्रप्शन के दाम बढ़ाने शुरू कर दिए। अधिकांश निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे बच्चे की पढ़ाई पर स्कूल, ट्यूशन और एडटेक यानी तीन तरह के खर्च कर सकें। इंटरनेट इकोनॉमी में सपनों का हिसाब जितना सुहाना है, वास्तविकता की जमीन उतनी ही खुरदरी ।

दैनिक जागरण

Date:05-07-23

विकृति बनती रेवड़ी संस्कृति,

गिरीश्वर मिश्र, (लेखक पूर्व कुलपति एवं शिक्षाविद् हैं)

एक समय राजनीति में वही लोग आते थे जो नि:स्वार्थ भाव और पूर्ण समर्पण से समाज एवं देश की सेवा करना चाहते थे, लेकिन स्वतंत्रता के 75 वर्ष बाद राजनीतिक परिवेश में जिस तरह की प्रवृत्तियां उभरकर सामने आ रही हैं वे राजनीति के तेजी से बदलते चरित्र को दर्शाती हैं। अब प्रत्येक दल किसी भी तरह सत्ता हासिल कर अधिक से अधिक समय तक उस पर काबिज रहना चाहता है। इसके लिए हर तिकड़म अपनाने से संकोच नहीं किया जा रहा। इसकी कीमत जनहित को चुकानी पड़ रही है। एक ताजा उदाहरण बिहार में गंगा पर बन रहे पुल के मामले से जुड़ा है। यह पुल निर्माणाधीन अवस्था में ही एक नहीं, बल्कि दो बार ध्वस्त हुआ। हर बार दोषियों पर कार्रवाई करने के लिए सरकार कहती रही, लेकिन न कार्रवाई हुई और न समस्या दूर हुई। दूसरा उदाहरण बंगाल से है। इसमें एक बड़े रसूखदार और मुख्यमंत्री के अत्यंत विश्वासपात्र चहेते मंत्री महोदय और उनकी महिला मित्र स्कूलों में अध्यापक नियुक्ति घोटाले में जेल में बंद हैं। उन पर आरोप है कि अयोग्य लोगों को गलत तरीके से नियुक्ति देकर अब तक वे करोड़ों रुपये की संपत्ति बना चुके हैं। बात केवल घपले-घोटालों तक ही सीमित नहीं। शिक्षा के क्षेत्र में भी सरकारें अपना वर्चस्व बढ़ाने पर आमादा है। विश्वविद्यालयों पर नियंत्रण के लिए राज्यपाल की जगह अब मुख्यमंत्री को कुलाधिपति (चांसलर) बनाने की तैयारी है। पंजाब में आम आदमी पार्टी सरकार भी ऐसा ही करने को उतावली है। इसी बीच खबर आई है कि सामाजिक उत्थान के लिए राजस्थान सरकार धोबी, नाऊ और ब्राह्मण आदि जातियों के लिए पंद्रह आयोग गठित कर रही है। प्रत्येक आयोग के अध्यक्ष के लिए प्रदेश सरकार में मंत्री स्तर का दर्जा और सुविधाएं मुहैया कराने की व्यवस्था होगी। समानता और समता लाने के बदले जातियों के आयोग बनाकर हर जाति को अपनी पहचान सुरक्षित करने के नाम पर झुनझुना पकड़ाया जा रहा है। ऐसे रुझानों के बीच और भी खतरनाक है चुनावी आहट के साथ ही राजनीतिक दलों द्वारा किस्म-किस्म की रेवड़ियां बांटने की होड़। चुनावी मौसम में सभी दल खुलकर बड़े-बड़े वादों और घोषणाओं की झड़ी लगा देते हैं। रोजगार, बिजली, सम्मान निधि, गैस सिलेंडर, कर्ज माफी, सस्ता कर्ज, मुफ्त वाईफाइ और आरक्षण की सुविधा से लेकर

जो मन में आए वही मतदाता को पेश कर दिया जाता है। जनता को मुफ्त की सुविधाएं देने का कोई तर्कसंगत कारण या नीतिगत आधार नहीं होता, केवल किसी तरह वोट बटोरने का तात्कालिक उद्देश्य होता है।

आज जाति, क्षेत्र और धर्म जैसे समाज विभाजक आधारों का आसरा लेकर विभिन्न दलों द्वारा चुनाव की तैयारी जन या समुदाय विशेष के लिए उपयोगी (कस्टमाइज) तुष्टीकरण को अंजाम देने की मुहिम तेज होती जा रही है। इस प्रक्रिया का कोई ओर-छोर नहीं दिखाई पड़ता। चूंकि सामान्य मतदाता की विचार करने की शक्ति सीमित होती है इसलिए उसकी प्रतिरोध करने की शक्ति घट जाती है। साथ में प्रलोभनों की बौछार कुछ ऐसी होती है कि पहले से लाचार मतदाता आसानी से उनके बहकावे में आ जाता है। सुविधाएं और धन बांट-बांटकर जनता से वोट बटोरना राजनीति को नया आधार दे रहा है। अब राजनीति में भागीदारी नागरिक जीवन में स्वेच्छा से अपनाया गया धर्म नहीं रहा। इन सबके चलते सक्रिय राजनीति में भागीदारी एक महंगा सौदा हो रहा है। आज विधायक और सांसद के चुनाव में करोड़ों रुपये खर्च होते हैं। इसलिए प्रत्याशी भी करोड़पति चाहिए और उनमें संदिग्ध चरित्र से लेकर आपराधिक प्रवृत्ति वालों की अच्छी-खासी संख्या होती है। राजनीतिक बिरादरी में धनबल और बाहुबल का सहयोग एक स्वीकृत मानक सा बन गया है, जिसके एक स्तर के नीचे किसी का प्रवेश वर्जित होता जा रहा है। राजनीतिक परिदृश्य में कथित सामाजिक उद्धार में शामिल नेताओं को भी अपना दबदबा बनाए रखने के लिए जाति को जीवित रखने में ही सही राह दिखाई पड़ती है। उसी में वे अपना भविष्य सुरक्षित महसूस करते है। वे जननेता की तरह नहीं, बल्कि एक जाति विशेष के नेता की तरह बर्ताव करते हैं। वे अतिरिक्त तत्परता से इस उपाय में लगे रहते हैं कि किस तरह जाति की शक्ति उनका समर्थन करती है। जाति आधारित जनगणना और विभिन्न प्रकार के आरक्षणों की मांग इसी किस्म की राजनीति के शिगूफे हैं। दूसरी ओर समान नागरिक संहिता लागू करने के प्रस्ताव को लेकर समाज की विविधता को खतरा सूंघते हुए नकारने की कोशिश भी होती है।

आधुनिक युग में गणतंत्र की जरूरत है कि राष्ट्र में सबकी समान भागीदारी हो। नागरिकता नागरिक होने की उस न्यूनतम व्यवस्था को रेखांकित करती है जो देश की सीमा में रहने वालों को समान आधार देती है। भारतीयों के लिए समान नागरिक संहिता भेदभाव को समाप्त करने के लिए आवश्यक होगी। तभी समता और समानता का लक्ष्य मिल सकेगा। ऐसा न करके हम देश के लिए परिहास की स्थिति उत्पन्न करते हैं। इसके विरोध का अर्थ तो यही है कि नागरिकों की कई श्रेणियां जायज होंगी। तलाक, विवाह, उत्तराधिकार तथा धन-संपदा आदि मामलों को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार के मानक अपनाना रूढ़िवादी सोच को ही दर्शाता है।

आज जब पंथनिरपेक्षता, वैज्ञानिकता, समानता और सामाजिक समता को लक्ष्य स्वीकार किया जा रहा है तो पूरे देश के लिए समान नागरिक संहिता एक स्वाभाविक आवश्यकता हो गई है। विश्व के अधिकांश प्रगतिशील देशों ने इस प्रणाली को सफलतापूर्वक अपनाया है। भारतीय संविधान भी ऐसी संहिता को अपनाने पर जोर देता है। भारत के उच्चतम न्यायालय ने भी बार-बार इसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। भारत के सभी नागरिक इसके हकदार हैं। स्वतंत्रता के 75 वर्षों के सामाजिक-राजनीतिक अनुभव का निचोड़ जिन प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है वे भी समान नागरिक संहिता को प्रासंगिक ठहराते हैं। इस विमर्श में विपक्ष तो आखिर विपक्ष ही ठहरा। उसे तो बस विरोध करना है। इसीलिए वह हिचकिचाता है। यहां यह याद रखना जरूरी है कि तुष्टीकरण किसी के हित में नहीं है। वह अल्पकालिक लाभ वाला हो सकता है और अंततः देश की जड़ों को खोखला ही करेगा। जगह-जगह इसका खामिजाया भुगता जाता रहा है। आज आवश्यकता है कि सभी राजनीतिक दल इस पर विचार करें और इसे नियंत्रित करने के कारगर उपाय करें। इसी तरह जन-चेतना प्रसार के लिए भी आंदोलन आवश्यक है।

जनसत्ता

Date:05-07-23

फिजूलखर्ची और सरोकार

संपादकीय

यह अपने आप में विचित्र है कि कोई सरकार धन की कमी बता कर किसी रेल परियोजना में आर्थिक योगदान करने से मना कर दे, लेकिन उसे विज्ञापनों या अन्य मदों में फिजूलखर्ची से कोई परहेज न हो। सुप्रीम कोर्ट ने सोमवार को इसी रवैये पर सवाल उठाते हुए दिल्ली सरकार को फटकार लगाई और कहा कि आपके पास विज्ञापनों के लिए पैसा है तो फिर उस परियोजना के लिए धन क्यों नहीं है, जो लोगों को बेहतर सुविधा देगी। गौरतलब है कि कुछ समय पहले सुप्रीम कोर्ट ने दिल्ली सरकार को 'रैपिड रेल' परियोजना के मद में पांच सौ करोड़ रुपए का योगदान देने का निर्देश दिया था। मगर दिल्ली सरकार ने कहा कि बजट की परेशानी की वजह से वह इसके लिए वित्तीय मदद नहीं कर सकती। यह किसी सरकार के हाथ खींचने का वाजिब कारण लग सकता है, लेकिन अगर वही सरकार अन्य मदों में खुले हाथों धन खर्च कर रही हो, तो यह सवाल स्वाभाविक है कि आखिर जनहित के किसी काम के लिए उसके पास पैसों की कमी क्यों हो जाती है। शायद यही वजह है कि इस रुख से नाराज सुप्रीम कोर्ट ने दिल्ली सरकार से दो हफ्ते के भीतर पिछले तीन वित्तीय वर्षों में विज्ञापनों पर हुए खर्च का ब्योरा मांगा है।

गौरतलब है कि 'रैपिड रीजनल ट्रांजिट सिस्टम' के जरिए राजस्थान और हरियाणा से जोड़ा जाना है। इसी में दिल्ली सरकार को भी अपना अंशदान देना था, जिसे देने से उसने मना कर दिया। वहीं सूचना का अधिकार कानून के तहत सामने आई जानकारी के मुताबिक, सन 2012-13 में जहां इस सरकार का विज्ञापन पर खर्च 11.18 करोड़ रुपए था, मार्च 2020 से जुलाई 2021के बीच बढ़ कर 490 करोड़ रुपए हो गया। सवाल है कि आम आदमी पार्टी सरकार को जनहित के लिए बनाई गई किसी परियोजना में हिस्सेदारी करने में हिचक क्यों होती है! जबकि अपने नेताओं और पार्टी का प्रचार करने के मकसद के विज्ञापनों पर खर्च में उसे कोई संकोच नहीं होता। ऐसे मामले अक्सर सामने आते रहते हैं, जब सरकारें किसी जनोपयोगी कार्य या योजना के लिए धन की कमी को कारण बताती हैं और सिर्फ इस वजह से कोई काम सालों-साल टलता रहता है। मगर दूसरी ओर विज्ञापनों से लेकर ऐसे मदों में सरकार की ओर से धन कई बार पानी की तरह बहाया जाता है

इसे सरोकारों पर फिजूलखर्ची का हावी होना कहा जा सकता है। खासकर जो सरकार सादगी के दावे पर ही जनता के लिए काम करने की बात कहती रही है, उसके खर्च और सरोकार को लेकर सवाल उठना स्वाभाविक है। दिल्ली में आम आदमी पार्टी का उभार और सत्ता में आने के पीछे एक बड़ा कारण यही था कि उसके नेता अरविंद केजरीवाल की ओर से दूसरी पार्टियों और सरकारों की फिजूलखर्ची और जनकल्याण के कामों के बजाय दिखावे पर सवाल उठाए गए। इस तरह के नारों का स्वाभाविक ही आम लोगों पर असर पड़ा और उन्होंने सादगी को अपनी नीति बताने वाली 'आप' पर भरोसा किया। लेकिन पिछले कई सालों के अनुभवों के आधार पर कहा जा सकता है कि दिल्ली की सत्ता संभालने के बाद इस

पार्टी का रवैया भी बाकी सरकारों से बहुत अलग नहीं रहा है। खासकर विज्ञापन और प्रचार पर दिल्ली सरकार के खर्चों को लेकर जैसे सवाल उठते रहे हैं, उसने 'आप' और उनके नेताओं के सरोकारों को प्रश्नांकित किया है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:05-07-23

आतंकवाद पर दो टूक

संपादकीय

शंघाई सहयोग संगठन (एससीओ) के आभासी शिखर सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने आतंकवाद के संदर्भ में जो कुछ कहा है, उसके गहरे निहितार्थ हैं। प्रधानमंत्री ने साफ-साफ कहा कि आतंकवाद क्षेत्रीय व वैश्विक शांति के लिए बड़ा खतरा है, और एससीओ को उन देशों की आलोचना करने से हिचकना नहीं चाहिए, जो सीमा पार दहशतगर्दी फैलाने के कृत्य को अपने नीतिगत औजार के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि प्रधानमंत्री के निशाने पर कौन सा मुल्क था, जो इस संगठन का भी सदस्य देश है, बल्कि उन्होंने प्रकारांतर से चीन को भी यह जता दिया है कि कूटनीति की आड़ में आतंकियों की हिमायत और आतंकवाद के शरणार्थी मुल्कों के बचाव की उसकी नीति आलोचना से परे नहीं है और वैश्विक मंचों पर इस मामले में वह कोई नैतिक मुद्रा नहीं ले सकेगा। गौरतलब है, एससीओ के अब तक आठ सदस्य देश थे, मगर इस वर्ष से ईरान को भी पूर्णकालिक सदस्य की मान्यता मिल गई है और इस तरह इस संगठन का लगातार विस्तार हो रहा है। शंघाई सहयोग संगठन की महत्ता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि इससे जुड़ने की आकांक्षा रखने वाले देशों की संख्या लगातार बढ़ रही है। इस संगठन के देशों में दुनिया की लगभग 42 फीसदी आबादी बसती है और विश्व अर्थव्यवस्था में महज इन आठ-नौ देशों की भागीदारी करीब एक चौथाई है, ऐसे में स्वाभाविक ही पश्चिम को इसका मजबूत होना नहीं सुहाएगा और इसलिए अक्सर वह इसकी आलोचना के लिए लोकतंत्र की आड़ लेते हैं। पश्चिम का आरोप है कि ज्यादातर अधिनायकवादी नेतृत्व वाले देशों के कारण इसकी लोकतांत्रिक विश्वसनीयता संदिग्ध है। निस्संदेह, इस संगठन में शामिल चीन, रूस और पाकिस्तान जैसे देशों में लोकतंत्र पर सवाल उठाए जा सकते हैं, मगर वास्तव में पश्चिम की चिंता इस संगठन की आर्थिक क्षमताओं को लेकर है और संगठन के देश यदि इन क्षमताओं की साझेदारी में ईमानदारी दिखाएं, तो उनकी उन्नति के कई दरवाजे एक साथ खुल सकते हैं। मगर इसके लिए इन देशों के बीच असंदिग्ध भरोसा होना चाहिए।

यदि यह संगठन अपनी सार्थकता साबित कर पाया, तो यकीनन भारत को भी इसका लाभ होगा। अपनी ऊर्जा सुरक्षा के लिए हम लंबे समय से मध्य एशिया के देशों से व्यापक सहयोग के आकांक्षी रहे हैं और इस संगठन के जरिये उनसे सहयोग में हमें सहूलियतें होंगी। चाबहार बंदरगाह के बेहतर उपयोग का प्रधानमंत्री द्वारा उल्लेख इसकी तस्दीक करता है। एससीओ देशों के पास पर्यटन क्षेत्र में भी अपार संभावनाएं हैं। यूनेस्को द्वारा घोषित 200 से अधिक वैश्विक धरोहर इनके पास हैं। मगर इसका पूरा-पूरा लाभ ये देश तभी उठा सकेंगे, जब इनकी मंशा में खोट न हो। चीन को भारतीय बाजार का लाभ तो चाहिए, पर वह सीमा-विवाद के मामले को उलझाए रखना चाहता है। इसी तरह, पाकिस्तान भारत से

कारोबारी रिश्ते भी बढ़ाना चाहता है और दहशतगर्दों को पनाह भी दे रहा है। ऐसे में, प्रधानमंत्री मोदी ने उचित ही कहा है कि दुनिया जिस मोड़ पर खड़ी है, उसमें खाद्यान्न, ऊर्जा और उर्वरकों का संकट सभी सदस्य देशों के लिए बड़ी चुनौती है, क्या यह संगठन अपने लोगों की अकांक्षाओं को पूरा करने के लिए तैयार है? एससीओ को अपने मकसद में सफल होना है, तो उसे आतंकवाद पर शून्य सहनशीलता को अपनाना होगा।

Date:05-07-23

बार बार पाठ्यक्रम बदलने के निहितार्थ

हरजिंदर, (वरिष्ठ पत्रकार)

कर्नाटक में स्कूली बच्चों के पाठ्यक्रम ने एक बार फिर करवट ले ली है। कहा जाता है कि राजनीति सबसे पहले अतीत में दखलंदाजी करती है, इसलिए इतिहास की किताबों से ऐसे कई लोग बाहर हो गए हैं, जो अभी तक वहां नायक के तौर पर स्थापित किए जा रहे थे। यह कोई नई बात नहीं है। हमारी शिक्षा व्यवस्था अब इसकी अभ्यस्त हो गई है। नई समस्या यह है कि कर्नाटक में पिछली दो सरकारों के समय जो इतिहास के साथ हुआ, वही अब विज्ञान के विषयों के साथ भी होने वाला है। एनसीईआरटी ने पिछले महीने विज्ञान के पाठ्यक्रम में जो बदलाव किए और उन पर शुरू हुआ विवाद जिस तरह अभी तक जारी है, उससे कम से कम यही संकेत मिलते हैं।

इतिहास और उसकी व्याख्याएं राजनीतिक विचारधाराओं से प्रभावित होती हैं, इसे तो अब दुनिया भर के इतिहासकार स्वीकार करते हैं, मगर विज्ञान को लेकर राजनीति हो, यह चीज भारत के लिए बिल्कुल नई है। हालांकि, बाकी दुनिया के लिए शायद यह उतनी नई नहीं है। सोवियत संघ के ट्रोफिम डेनिसोविच लिसेनको की कहानी अब तक लोग भूल चुके हैं, पर उनका उदाहरण यह समझने के लिए जरूरी है कि विज्ञान में जब राजनीति पहुंचती है, तो गिरावट किस हद तक जा सकती है। लिसेनको वैसे तो एक कृषि वैज्ञानिक थे, लेकिन वह अपनी राजनीतिक सक्रियता के कारण सोवियत संघ में बहुत ऊपर पहंुच गए। जल्द ही वह सोवियत विज्ञान के सबसे बड़े सिद्धांतकार बन गए। कुछ ही समय में उन्होंने निर्देश दिया कि लैमार्क के विकास के सिद्धांत तो मान्य होंगे, लेकिन जी.जे. मेंडल की जेनेटिक साइंस का कोई नाम भी नहीं लेगा। हालत यहां तक पहंुच गई कि उनसे असहमत होने वाले वैज्ञानिकों को सताया और जेलों में डाला जाने लगा। यह लिसेनको ही थे, जिनकी बनाई नीतियों को लागू करने के कारण पहले सोवियत संघ को भयानक अकाल का सामना करना पड़ा और बाद में जब कम्युनिस्ट चीन ने वही रास्ता अपनाया, तो उसे भी 1959 से 1962 तक भीषण अकाल झेलना पड़ा। बेशक, यह अपने तरह का अकेला उदाहरण है, लेकिन लिसेनको की कहानी हमें बताती है कि विज्ञान में राजनीतिक विचारधारा की दखल किस अति की ओर ले जा सकती है।

विज्ञान में राजनीति की दखलंदाजी के दुनिया भर के बाकी उदाहरण भले इतने बड़े और भयानक नहीं हैं, लेकिन हमारे यहां जो हो रहा है, उसे देखते हुए वे काफी महत्वपूर्ण जरूर हैं। पिछले तकरीबन तीन दशक में अमेरिका और बाकी कई पश्चिमी देशों में लगातार ऐसे संगठन सक्रिय रहे हैं, जो चार्ल्स डार्विन व विकासवाद के पीछे लट्ठ लेकर घूमते रहते हैं। वे चाहते हैं कि जीव विज्ञान में इन विषयों की पढ़ाई बंद की जाए और अगर पढ़ाना ही है, तो उस सृष्टिवाद या ‘क्रीएशनिज्म’ को पढ़ाया जाए, जिनके सिद्धांत धार्मिक ग्रंथों से निकलते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि

बहुत सारे दूसरे धर्मों के अनुयायी भी कई तरह से उनके समर्थन में खड़े दिखाई देते हैं। यह बात अलग है कि सबका सृष्टिवाद एक-दूसरे से अलग है, लेकिन चार्ल्स डार्विन से सबकी दुश्मनी तो समान है।

इन संगठनों ने अपने आप को धरनों, प्रदर्शनों और जुलूसों तक ही सीमित नहीं रखा, वे इस मामले को लेकर अदालतों में भी गए। दिलचस्प यह भी है कि ये संगठन कुछ वैज्ञानिकों को भी अपने साथ जोड़ने में कामयाब रहे। अंत में तमाम दलीलों और बहसों के बाद यही तय हुआ कि डार्विन और जैव विकासवाद के साथ बच्चों को स्कूलों में दैविक या आलौकिक सृष्टिवाद भी पढ़ाया जाएगा। हालांकि, इसको मामूली बदलाव कहा गया, लेकिन सच यह था कि विज्ञान के पाठ्यक्रम में विचारधारा ने अपनी उपस्थिति दर्ज करा दी थी।

भारत में किसी तरह के सृष्टिवाद को तो पाठ्यक्रम में शामिल नहीं किया गया, पर हां, डार्विन और उनके विकासवाद को उससे जरूर बेदखल कर दिया गया। कारण यह बताया गया कि इसका मकसद बच्चों पर पढ़ाई के बोझ को कम करना है। मगर इस पूरे पैकेज में विज्ञान के अलावा इतिहास वगैरह के पाठ्यक्रमों में जिस तरह के बदलाव किए गए, उनका इशारा इसी ओर है कि परिवर्तन के पीछे एक विचारधारा काम कर रही है। दिक्कत यह है कि देर-सबेर अगर समीकरण बदले, तो कर्नाटक की तरह ही डार्विन फिर से पाठ्यक्रम में लौट आएंगे। हो सकता है कि ऐसा करने वालों की डार्विन में कोई निष्ठा न हो और वे सिर्फ विरोधी विचारधारा होने का दायित्व निभा रहे हों। तब विज्ञान के साथ ही हम वही सुलूक कर रहे होंगे, जो अभी तक इतिहास के साथ करते आए हैं।

हमारी राजनीति की दिक्कत यह है कि वह पाठ्यक्रम को जितनी गंभीरता से लेती है, उतना वह कभी शिक्षा को लेकर गंभीर नहीं होती। शिक्षा पर काम करने वाली एक संस्था है प्रथम। जो हर साल एक रिपोर्ट निकालती है, जिससे हमें पता चलता है कि छोटी कक्षाओं में बच्चों को जो पढ़ाया जाता है, उससे वे वाकई कितना सीख पाते हैं। वैसे, इस पर भी अध्ययन होना चाहिए कि जो पढ़ाया जाता है, उसमें से कितना वे समझ पाते हैं। पाठ्यक्रम को वे आत्मसात कर लें, ऐसी कोशिश हमारी कक्षाओं में शायद ही होती हो। पढ़ाई जब तक रटकर परीक्षा पास कर लेने की कवायद भर है, पाठ्यक्रमों में किया गया कोई भी बदलाव, चाहे उसके पीछे जो भी मकसद हो, बेमतलब ही रहेगा।

डार्विन और विकासवाद की पढ़ाई ने बच्चों को वैज्ञानिक समझ दी हो, ऐसा कहीं दिखाई नहीं देता। इतिहास की कक्षाएं किसी तरह का इतिहास बोध नहीं पैदा करतीं। वैसे भी यह काम हमने वाट्सएप यूनिवर्सिटी के हवाले कर दिया है। साहित्य की पढ़ाई बच्चों में साहित्यिक अभिरुचि का निर्माण करती नजर नहीं आती। नैतिक शिक्षा की पढ़ाई ने बच्चों में नैतिक मूल्यों को भर दिया हो, इसका भी उदाहरण नहीं है। हम स्कूलों में नागरिक शास्त्र पढ़ाते हैं, लेकिन इससे कहीं किसी में नागरिक का दायित्व-बोध नहीं आता।

जब तक यह सब नहीं बदलता, पाठ्यक्रमों में किया गया कोई भी बदलाव सार्थक साबित नहीं हो सकेगा। आप पाठ्य-पुस्तकें बदलकर बेशक संतुष्ट हो सकते हैं, लेकिन सिर्फ इससे आप उस मकसद को हासिल नहीं कर सकते, जिसके लिए यह बदलाव किया गया था। इस कवायद से आप बच्चों में किसी भी सोच के कोई बीज नहीं रोप सकते। शिक्षा की वह जमीन हमने आखिर तैयार ही कहां की है?